शिक्षा और जटिल होते समाज के विमर्शों की पड़ताल

ऋषभ कुमार मिश्र*
समरजीत यादव**

पुस्तक का नाम	:	*शिक्षा और आधुनिकता — कुछ समाजशास्त्रीय नज़रिए*
लेखक	:	अमन मदान
प्रकाशक	:	एकलव्य प्रकाशन, भोपाल
मूल्य	:	₹100

शिक्षा और आधुनिकता — कुछ समाजशास्त्रीय नज़रिए अमन मदान द्वारा सरल सुबोध भाषा में लिखी गई पुस्तक है। इसमें व्यक्ति, समाज व शिक्षा के संबंधों को 'आधुनिकता' की विश्व दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। लेखक पुस्तक की प्रस्तावना में अपने उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि उनका लक्ष्य बदलते समाज में शिक्षा की भूमिका को समझना और समझाना है। प्रायः शिक्षा के अध्येताओं को शिक्षा का मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य आकर्षित करता है। इसकी अपनी प्रासंगिकता है, लेकिन लेखक का मानना है कि इसके द्वारा व्यक्ति-केंद्रित संज्ञान, ज्ञान, निर्माण और मनोवैज्ञानिक चरों के अध्ययन से शिक्षा और समाज के समग्र संबंध को नहीं समझा जा सकता है। अपने तर्क के संबंध में वे कुछ महत्वपूर्ण शैक्षिक सवालों का उदाहरण देते हैं। उदाहरण के लिए, स्कूल के कुछ बच्चे पीछे क्यों रह जाते हैं? शिक्षा में साधन कैसे और किसे मिलते हैं? अलग-अलग समाज किस तरह की शिक्षा चाहते हैं? लेखक का मानना है कि उक्त समस्याओं का समाजशास्त्रीय विश्लेषण उन सामाजिक टकरावों और अंतर्विरोधों को उजागर करता है जिसके बीच में शिक्षा कार्य कर रही है। इस तर्क के सहारे आगे बढ़ते हुए व्याख्या की गई है कि शिक्षा के उद्देश्य स्थिर और अपरिवर्तनीय नहीं होते हैं, बल्कि उनका संबंध इतिहास और समाज की संरचना से होता है। यह स्थापना पाठक के लिए संकेत है कि वह इन संरचनाओं को समझे बिना शिक्षा की भूमिका पर विचार नहीं कर सकता है। पुस्तक की पूर्व-पीठिका के रूप में पहले अध्याय में लेखक ने 'शिक्षा और समाज' के संबंध को समझने

* *असिस्टेंट प्रोफ़ेसर*, शिक्षा विभाग, शिक्षा विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र – 442 001
** *असिस्टेंट प्रोफ़ेसर*, शिक्षा विभाग, शिक्षा विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र – 442 001

के लिए तीन आयाम प्रस्तुत किए हैं— उत्पादन, आदान-प्रदान और उपभोग की बदलती व्यवस्था, बढ़ती सामाजिक जटिलता और नौकरशाही संगठनों का प्रभाव। आगे के अध्यायों में इन्हीं आयामों की व्याख्या की गई है।

अध्याय 2 में लेखक ने विस्तृत विवेचना की है कि 'हमारा समाज सरल से जटिल होता जा रहा है।' इस कारण शिक्षा के आधारभूत सवाल भी बदल रहे हैं। जटिलता की ओर बढ़ते समाज में आपने सांस्कृतिक विश्वासों, मूल्यों व व्यवहारों में बदलावों को रेखांकित किया है। इनके परिणामस्वरूप सामाजिक रिश्तों एवं व्यक्ति की भूमिकाओं के नए ढाँचे पैदा हो रहे हैं। लेखक दो तरह के समाजों का उदाहरण लेते हैं—सरल समाज और जटिल समाज। इन दोनों तरह के समाजों में शिक्षा की भूमिका में अंतर के बारे में इनका मानना है कि अपेक्षाकृत सरल समाजों में शिक्षा की प्रक्रिया व्यक्तिगत स्नेह एवं व्यक्तिगत भिन्नता का आदर करती है जबकि जटिल होते समाज में रिश्ते निर्वैयक्तिक होते जाते हैं। एमिल दुर्खीम (1857–1917) के सिद्धांत को आधार मानते हुए लेखक समाज की जटिलता का आरंभ बिंदु, औद्योगिकीकरण को मानते हैं। औद्योगिकीकरण के परिणामस्वरूप समाज में व्यक्ति की भूमिका में विविधता और विशेषज्ञता पैदा हुई। समुदाय में आपसी निर्भरता बढ़ी। इन सब के परिणामस्वरूप शिक्षा से हमारी अपेक्षा और समाज पर शिक्षा के प्रभाव भी बदल गए। इन बदलावों का उल्लेख करते हुए लेखक लिखता है कि, "जटिल समाजों में स्थितियों से निपटने के तौर-तरीके सरल समाजों से बिलकुल अलग होते हैं।" इस स्थिति में नई परिस्थितियों के लिए नई विधियों और व्यवस्थाओं की आवश्यकता पड़ती है। इस आवश्यकता के कारण ही वर्तमान में शिक्षा से यह अपेक्षा की जाती है कि वह युवा पीढ़ी को जटिल समाज के तौर-तरीके सिखाए। ये तौर-तरीके वर्तमान ज़रूरतों के अनुकूल हों और भविष्य के लिए भी तैयार करें।

जटिल समाजों की एक अन्य विशेषता बताते हुए लेखक व्याख्या करता है कि हमारा समाज विशिष्टतावादी से सार्वभौमिकतावादी संस्कृति की ओर अग्रसर हो रहा है। विशिष्टतावादी संस्कृति में व्यक्तिगत परिवार आधारित रिश्तों को महत्व प्रदान किया जाता है, जबकि सार्वभौमिकतावादी संस्कृति में गैर-पारिवारिक स्थितियाँ महत्वपूर्ण होती हैं। लेखक उदाहरण देता हुए बताता है कि विशिष्टतावादी संस्कृति में 'मैं','मेरा परिवार' और 'उसका इतिहास' जैसे सवाल महत्वपूर्ण होते हैं, जबकि सार्वभौमिकतावादी संस्कृति में 'मैं किस स्कूल में पढ़ता हूँ?' 'मैं किस कारखाना में कार्य करता हूँ?' जैसे सवाल महत्वपूर्ण हो जाते हैं। सार्वभौमिकतावादी संस्कृति सामाजिक व्यवहारों और रिश्तों में अधिक समतामूलक होती है। इसमें 'अपनेपन' का आग्रह कम हो जाता है, इस कारण व्यक्ति सार्वभौमिक मूल्यों के सापेक्ष सोच सकता है। उदाहरण के लिए, उसे बोध होता है कि लोकतांत्रिक प्रणाली में सभी के विचारों का महत्व है न कि केवल उन लोगों के विचारों का महत्व, जिन्हें हम पसंद करते हैं। वह मानता है कि शिक्षा-प्रक्रिया में रक्त संबंधों आदि के आधार पर भेदभाव नहीं करना चाहिए। इस व्याख्या के दौरान लेखक पाठकों को सचेत करता है कि जटिल समाज में सार्वभौमिक

संस्कृति ही सर्वमान्य हो, यह पूर्णतः सत्य नहीं है। जटिल समाजों में भी विशिष्टतावादी संस्कृति के लक्षण पाए जाते हैं अर्थात् व्यक्ति अपने व्यक्तिगत संबंधों और प्राथमिकताओं के प्रति आग्रह रखता है। इसी कारण जटिल समाजों की एक प्रमुख चुनौती एकजुटता को बनाए रखना है। दुर्खीम का संदर्भ लेते हुए लेखक मानता है कि जटिल समाजों में एकजुटता बनाना कठिन कार्य होता है। जटिल समाजों की यह चुनौती होती है कि कैसे विभिन्न वर्गों के बीच जुड़ाव की भावना रची जाए। लेखक इसके लिए अनुबंधी एकजुटता और जैविकीय एकजुटता की चर्चा करते हैं। अनुबंधीय एकजुटता बाज़ार आधारित लेन-देन और फ़ायदे से प्रेरित होती है। इसमें संभावना रहती है कि जैसे बाज़ार में सौदेबाज़ी की स्थितियाँ बदलेंगी वैसे ही सामाजिक रिश्ते भी बदल जाएँगे। जबकि जैविक एकजुटता ऐसी संस्कृति पर आधारित होती है जो विभिन्न सामाजिक समूहों व विभाजनों के बीच संवाद स्थापित करती है। लेखक रेखांकित करता है कि अलग-अलग पहचानों वाले लोग एक-दूसरे से भावनात्मक रूप से जुड़ें, इसके लिए स्कूलों को कार्य करना होगा। निहितार्थ है कि शिक्षा का उद्देश्य जैविकीय एकजुटता को पुष्ट करना है। स्कूल अपनी भूमिका को निभाएँ इसकी निगरानी का दायित्व सरकार का है, इसके लिए सरकार की नीतियों को भी लोकतांत्रिक, समतामूलक व न्यायपूर्ण होना होगा।

जटिल समाज के व्यक्ति की विशेषताओं के बारे में लेखक का मानना है कि, "जटिल समाजों की अधिक उलझी हुई भूमिकाएँ यह माँग करती हैं कि लोग अपने काम का स्वतंत्र आकलन करें, आत्मनिर्भर हों, निर्णय लेने से ना घबराएँ जो औरो से अलग हों" प्रथम दृष्टया इन विशेषताओं वाले व्यक्ति की चेतना रूपांतरणकारी ज्ञात पड़ती है लेकिन लेखक का मानना है कि ऐसे व्यक्ति के प्रकट होने से उसकी परंपरागत संस्कृति व नई संस्कृति के बीच एक द्वंद पैदा होता है। वह न तो अपनी परंपरागत पहचान को छोड़ने के लिए तैयार होता है और न ही नई संस्कृति के आकर्षण से स्वयं को मुक्त रख पाता है। इस स्थिति का विकास और समाधान शिक्षा द्वारा हो सकता है। जहाँ शिक्षा आधुनिक चेतना के विकास से संस्कृतियों के टकराहट का रास्ता खोलती है, वहीं यह इनके बीच सामंजस्यपूर्ण समाधान का रास्ता भी प्रशस्त करती है।

अध्याय 3 में लेखक 'एक वस्तु के रूप में शिक्षा की व्याख्या' करता है। आपका मानना है कि वैश्वीकरण और निजीकरण के प्रभाव में शिक्षा एक वस्तु बन गई है, जिसका मूल्य पैसों में मापा जा रहा है। कोचिंग सेंटर, इंटरनेशनल स्कूल आदि का उदाहरण लेते हुए लेखक बाज़ार के नियमों और शिक्षा की मौद्रिक भूमिका की चर्चा करते हैं। इस अध्याय में कार्ल पोलान्यी की शब्दावली प्रयोग करते हुए समाज में 'शिक्षा के आदान-प्रदान के तरीके' के तीन मॉडलों (प्रतिमान) का उल्लेख है। प्रथम, पारस्परिकता का मॉडल, जहाँ व्यक्तिगत एवं सामुदायिक संबंधों और ज़रूरतों के आधार पर लोगों को शिक्षा दी जाती है। दूसरा, पुनर्वितरण का मॉडल, जहाँ पैसों के लेन-देन के बदले राजनैतिक एवं सांस्कृतिक लेन-देन को अधिक महत्व दिया जाता है, जैसे — ज़मींदार लोग लगान के रूप में एकत्रित अनाज को पाठशाला और शिक्षकों को बाँटते हैं। इसका उद्देश्य लाभ कमाना न होकर उपकृत समाज को अपने पक्ष में करना होता है।

इसी का प्रभाव होता है कि शिक्षक वर्ग ज़मींदार पर सवाल नहीं उठाता है। तीसरा, वस्तु का मॉडल, जिसमें शिक्षा जैसी सेवाओं को वस्तु मानकर बाज़ार के भरोसे छोड़ दिया जाता है। लेखक का मानना है कि वर्तमान तीसरे मॉडल का अधिक चलन है। चूँकि बाज़ारीकरण के दौर में सामाजिक संबंध 'घुल' जाते हैं अर्थात् "पैसे और बाज़ार के ज़रिए लोगों और साधनों को उनको परिवेश से निकाल कर एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जाता है। इसके चलते तमाम संबंध और लेन-देन बंधनों और रूढ़ियों से आज़ाद हो जाते है।" इसलिए शिक्षा और उसके लाभार्थियों को लाभ देने के लिए बाज़ार की शक्तियाँ लुभा रही हैं। लेखक, ग्राहक में तबदील होते समाज की विशेषताओं का उल्लेख भी करता है। इससे व्यक्तियों के पुराने रिश्ते व सामाजिक हैसियत के बदले व्यक्ति को बाज़ार के सापेक्ष देखा जाता है। शिक्षा और बाज़ार के संबंध ने समाज में शिक्षा की भूमिका में बुनियादी परिवर्तन ला दिया है। अब शिक्षा सांस्कृतिक भूमिका के स्थान पर मज़दूरी के बाज़ार में महत्वपूर्ण पद दिलाने के उद्देश्य से संचालित होती है। लेखक पाठकों को यह भी सचेत करता है कि शिक्षा के एक वस्तु के रूप में रूपांतरित होने के कारण ज़्यादा पैसे वालों का शिक्षा पर अधिकार बढ़ रहा है। बाज़ार के लिए उपयोगी ज्ञान व कुशलता के लिए शिक्षा दी जा रही है, जबकि सामाजिक बदलावों के लक्ष्य की उपेक्षा होती जा रही है। इस सब के प्रभाव में स्कूलों में शिक्षक और बच्चे का रिश्ता, विक्रेता व ग्राहक का होता जा रहा है।

शिक्षा और बाज़ार के संबंध की इस पृष्ठभूमि में अध्याय 4 'पूँजीवाद व शिक्षा के संबंध की व्याख्या' करता है। पूँजीवाद की आधारभूत विशेषताओं को रेखांकित करते हुए इस अध्याय में बताया गया है कि बाज़ार की ताकत का विस्तार, लाभ के लिए व्यापार, प्रतिस्पर्धा, पूँजी के उत्पादन को वास्तविकता मानता है। लेखक बेंगलुरु की महानगरीय संस्कृति का उदाहरण लेते हुए पूँजीवाद से पैदा हुए सामाजिक बदलावों को समझाता है। आपका स्पष्ट मानना है कि बाज़ारीकरण के प्रभाव में नए ज़माने के युवक-युवतियों के लिए कामयाबियों की परिभाषा बदली है। वे नई जीवन शैली को अपना रहे हैं। उनका तकनीकी और आरामदायक सुविधाओं के प्रति मोह बढ़ा है। इन परिस्थितियों में पूँजीवाद की माँग है कि शिक्षा लोगों को नौकरियों के काबिल बनाए, न कि महज़ संस्कार दे। लेखक यह भी बताता है कि पूँजीवाद की प्रतिक्रिया के स्वरूप सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ भी सक्रिय हैं। वह शिक्षक के दायित्व का उदाहरण लेते हुए पूँजीवाद की समर्थक शिक्षा और पूँजीवाद की प्रतिक्रिया में शिक्षा का उदाहरण देता है। जब शिक्षक पूँजीवाद का समर्थन करेगा तो उसका दायित्व बाज़ार के लिए मज़दूर तैयार करना होगा। जबकि जब शिक्षक पूँजीवाद की प्रतिक्रिया को स्वीकार करेगा तो वह सशक्त व्यक्तियों का निर्माण करना, शिक्षा का लक्ष्य रखेगा। इस अध्याय के अंतिम हिस्से में लेखक 'पूँजीवाद के सापेक्ष सरकार की भूमिका' को उभारता है। लेखक के अनुसार भारतीय संविधान में जनतांत्रिक तरीके से चुनी गई सरकार का एक प्रयोग समाज की ज़रूरतों को संबोधित करना था, न कि कुछ चुने हुए लोगों के फ़ायदे के लिए कार्य करना। इसी कारण आज़ादी के बाद सरकार ने निजी क्षेत्र के बदले स्वयं के हस्तक्षेप से विकास को दिशा दी। सरकार ने जनशिक्षा के प्रसार को बल दिया। यही वह दौर था जब सरकारी विद्यालयों और

शिक्षकों की प्रतिष्ठा निजी विद्यालयों से अधिक थी। लेखक यह भी चर्चा करता है कि 1970–80 के बीच लाइसेंस राज के कारण सरकार की साख में गिरावट हुई। इस दशा में ऐसा माना जाने लगा कि सरकार के बदले निजी क्षेत्र अधिक प्रभावशाली ढंग से समस्याओं का समाधान कर सकते हैं। इस सहमति के साथ वैश्वीकरण की नीतियों को बल मिला। अंततः 1990 के आस-पास शिक्षा में निजीकरण की प्रवृत्ति को स्वीकार कर लिया गया। इसका प्रभाव यह हुआ कि शिक्षा का लाभ संपन्न लोगों के पक्ष में स्थानांतरित हो रहा है। शिक्षा पर कॉर्पोरेट घरानों का एकाधिकार हो रहा है। क्षेत्रीय विकास में असमानता पैदा हो गई है। शिक्षा द्वारा सुरक्षित भविष्य के लालच में आम आदमी अपना सब कुछ दाँव पर लगा रहा है। लेखक यह सुझाता है कि शिक्षा व्यक्ति को ताकतवर बनाए इसके लिए आवश्यक है कि जनतांत्रिक सरकारें आम आदमी की आवश्यकताओं को अपनी नीतियों में स्थान दें, न कि वे अपनी भूमिका बाज़ार के पोषक के रूप में सीमित करें।

अगले अध्याय में लेखक मैक्स वेबर के विचारों का संदर्भ लेते हुए शिक्षा के औपचारिक संगठनों की विशिष्टताओं से परिचित कराता है। लेखक औपचारिक संगठनों के लक्षण गिनाता है — काम को छोटी इकाइयों में बाँटना, एक व्यवस्था निर्मित करना, स्पष्ट नियम, साक्षरता, पदानुक्रम , रूटीनीकरण और निर्वैयक्तिक रवैया। लेखक का मानना है कि शिक्षा में औपचारिक संगठनों की व्यवस्था सृजनात्मकता और भावनात्माकता जैसे पक्षों की उपेक्षा कर, शक्ति के केंद्रीकरण और वर्चस्व का माहौल तैयार कर रही है। इसी कारण स्कूल, कारखाने बनते जा रहे हैं जो आज्ञाकारी और विनम्र विद्यार्थी तैयार कर रहे हैं, जिनमें जिज्ञासा व आलोचनात्मकता का अभाव है। यद्यपि औपचारिक व्यवस्थाओं के लाभ अवश्य हैं, लेकिन हमें ध्यान रखना होगा कि दुनिया को उपकरण मानकर नहीं चलाया जा सकता है। यह बात शिक्षा के संदर्भ में अधिक महत्वपूर्ण है। हमें अपनी भावी पीढ़ी को केवल समस्याओं के प्रति तर्कवादी चिंतन ही नहीं सिखाना है, बल्कि उन्हें मानवीय भी बनाना है। इवान इलिच के विचारों से सहमत होते हुए लेखक की दृढ़ मान्यता है कि शिक्षक नौकरशाह नहीं हो सकता। इसी कारण वे स्कूलों में शक्ति के विकेंद्रीकरण और कामकाज के अनौपचारिक और मानवीय ढंग का समर्थन करते हैं, जिससे शिक्षा के भागीदारों की रचनात्मकता और मानवीयता को बनाए रखा जा सके।

अंतिम अध्याय में लेखक निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहता है कि जटिल समाजों के उदय, बाज़ारीकरण और औपचारिक संगठनों की मौजूदगी के कारण शिक्षा पर आंतरिक व बाह्य दबाव पड़ रहे हैं। हमारे आपसी संबंध व पहचानें भी प्रभावित हो रही हैं। रोज़मर्रा के सवाल, जैसे—बच्चों को कैसे पढ़ाएँ? क्या पढ़ाएँ? आदि इन्हीं प्रवृत्तियों से निर्देशित हो रहे हैं। इस दशा में आधुनिक समाजों में शिक्षा की भूमिका को समझने हेतु केवल बाह्य बदलावों को समझना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि हमें परंपरा और आधुनिकता के विमर्श को अपनी संस्कृति के नज़रिए से देखना होगा। लेखक आधुनिकता के सार्वभौमिक चरित्र की आलोचना करते हैं और बताते हैं कि यह स्थानीय विविधता को नज़रअंदाज़ करती है। इसकी एक अन्य सीमा है कि विज्ञान हर बात का

उत्तर दे सकता है जबकि किसी भी सवाल का कोई एक जवाब नहीं हो सकता। वे नौकरशाहीकरण और तर्कशीलता के बदले पहचान व संस्कृति को पहचानने वाली शिक्षा को अधिक प्रासंगिक और महत्वपूर्ण मानते हैं। इसके आधार पर पाठक की समझ बनती है। स्कूल में साझा संस्कृतियों को स्थान मिलना चाहिए। हमें समस्या समाधान के सार्वभौमिकतावादी नज़रिए के बदले अनूठे समाधान के रास्ते को अपनाना होगा। बाज़ारीकरण और पूँजीवाद, नौकरशाहीकरण के बंधन कमज़ोर होने के बजाय मज़बूत होते जा रहे हैं। इसका एक प्रभाव यह हुआ है कि शिक्षा द्वारा लोगों के जीवन में सुधार हुआ है, वे दमनकारी संबंधों से मुक्त हुए हैं, किंतु बाज़ार पर निर्भरता और प्रतिस्पर्धा जैसी समस्याएँ पैदा हुई हैं। शिक्षा में अति औपचारिकता को स्थान देने के कारण यह बोझ बनती जा रही है। इस संबंध में लेखक कुछ समाधान सुझाता है, जैसे—शिक्षक को स्वायत्तता दी जाए, कक्षा के भीतर मानवीय माहौल बनाया जाए, विद्यालयी जीवन संस्कृति को केंद्रीय किया जाए और नाना संस्कृतियों के मध्य सहअस्तित्व का पोषण किया जाए। अंततः लेखक मनुष्यों के आलोचनात्मक विवेक पर विश्वास करते हुए सुधी पाठक के लिए सवाल छोड़ता है कि क्या हम एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था बनाना चाहते हैं जो हमारी बुनियादी अभिव्यक्ति को महत्व दे या फिर ऐसी व्यवस्था जो सिर्फ़ ज़्यादा-से-ज़्यादा मुनाफ़े व नियंत्रण की चाहत को बढ़ावा दे।

कुल मिलाकर यह पुस्तक पठनीय है। आरंभ से अंत तक पाठक को बाँधे रखती है। इसमें प्रस्तुत व्याख्याएँ एकांगी न होकर समाज और शिक्षा के पूरक और संतुलित चित्र को प्रस्तुत करती हैं। पुस्तक की भाषा में बोलचाल के शब्दों का प्रयोग है, जिसके कारण यह शिक्षा के अध्येताओं के साथ शिक्षा में रुचि रखने वाले किसी भी पाठक के लिए उपयोगी है। प्रत्येक अध्याय के अंत में अन्य महत्वपूर्ण संदर्भ ग्रंथों का उल्लेख है जो जागरूक पाठकों के लिए मददगार होंगे।